दुविधा में नीलू

प्रफुल्ल कोलख्यान

एक साधारण बिजली मिस्त्री है, नीलू। ठीकेदार का आदमी है। घर का एक मात्र कमाऊ सदस्य। बेटा पढ़ने लिखने में उतना होशियार नहीं है। बेटी के बारे में उसे कोई खास जानकारी नहीं थी। बेटी ने माध्यमिक की परीक्षा दी थी। जिस दिन नेट पर माध्यमिक परिणाम आया नीलू ने दफ्तर के किसी रहम दिल को डरते-डरते अपनी बेटी का रोल नंबर देते हुए परिणाम जानने की गुजारिश की। परिणाम अच्छा था। बच्ची प्रथम श्रेणी में अच्छे अंकों से पास थी। स्वाभाविक था कि दफ्तर के संवेदनशील लोगों ने इस बात की नोटिस ली। नीलू को सलाह दी गई कि बच्ची को आगे पढ़ाने के काम में किसी तरह की कोताही नहीं होनी चाहिए। खर्च को लेकर परेशान होने की जरूरत नहीं है। खर्च की व्यवस्था हो जायेगी। किताब-कॉपी और आगे नाम लिखाने के खर्च की व्यवस्था भी कर दी जायेगी। नीलू इस सहयोगी रुख से गदगद था। लेकिन उसकी खुशी बहुत दिन तक कायम नहीं रह सकी। वह जल्दी ही दुविधा में फँस गया। क्या करे, क्या न करे। रातों की नींद हराम। और एक दिन नीलू मेरे कान में धीरे-धीरे अपनी दुविधा रख रहा था। पहले तो मैं समझ ही नहीं पाया कि वह कहना क्या चाहता है। उसकी परेशानी क्या है। वह कह रहा था कि वह जल्दी ही लोगों के सामने यह बात साफ कर देना चाहता है कि वह बच्ची को आगे पढ़ाने की स्थिति में नहीं है। देर हो जाने से लोग किताब-पोथी का इंतजाम कर लेंगे। लोगों का इंतजाम बेकार चला जायेगा। यह शर्मनाक स्थिति होगी।

वह चाहता था कि मैं उसकी मदद करूँ। उसके शुभचिंतकों को समझाऊँ कि बच्ची को आगे नहीं पढ़ा पाने का लोग बुरा नहीं मानें। अब दुविधा में पड़ने की बारी मेरी थी। सबसे पहली जरूरत थी कि उसकी समस्या जानूँ। समस्या यह समझ में आई कि वह लड़की की शादी की बात चला रहा था। बात लगभग पक्की हो चली थी। बाधा यह कि लड़केवाले लड़की को आगे पढ़ाने के पक्ष में नहीं थे। नीलू लड़की को आगे पढ़ाये तो ऐसा 'गुनी वर' और ऐसा 'संपन्न घर' हाथ से निकल जायेगा। बाद में उसके लिए बाप के 'दायित्व' से मुक्त होना मुश्किल हो जायेगा। मैंने अपने मुताबिक उसका हौसला बढ़ाना चाहा। न वह मेरी बातों से संतुष्ट हो पाया और न मैं उसकी मदद करने

का साहस जुटा पाया। आगे उस बच्ची का चाहे जो हो लेकिन यह सच है कि बहुत सारी बच्चियों का भविष्य 'बाप के दायित्व' के बोझ के तले दबकर दम तोड़ देता है। इससे संबंधित तमाम आँकड़े मेरे दिमाग में तैर रहे थे। आँकड़ों का सच जब जीवन में प्रकट होता है तो आँकड़ों का अर्थ संख्याओं तक सीमित नहीं रह जाता है।

इस तरह की एक और घटना की याद मेरे मन में तुरंत ताजा हो गई। उन दिनों जाने-माने चित्रकार अशोक भौमिक एक दवा कंपनी में काम कर रहे थे और उसके कोलकाता स्थित कार्यालय में तैनात थे। हालाँकि दो-तीन बार ही उनके दफ्तर में मेरा जाना हुआ था। लेकिन जिस दिन पहली बार जाना हुआ था शायद उसी दिन वह घटना हुई थी। उस दिन भी माध्यमिक का परिणाम आया था। दफ्तर में दबे पाँव मिठाई बँट रही थी। माहौल का भारीपन सहज ही समझ में आ सकता था। मिठाई मुझे भी मिली थी। मेरी मुख-मुद्रा देखकर अशोक भौमिक ने खुद ही राज खोला। राज यह कि उस दफ्तर के प्रधान का लड़का माध्यमिक में 'अच्छा प्रदर्शन' नहीं कर पाया था जबकि उनके चपरासी की लड़की का परिणाम बहुत अच्छा आया था। बड़े साहब 'अपसेट' थे और दफ्तर में मिठाई बँट रही थी! उस लड़की का बाद में क्या हुआ पता नहीं।

इन दो घटनाओं के बीच में इस तरह की और बहुत सारी घटनाएँ स्मृति-पटल पर छा गई। बात इतनी जरूर समझ में आ रही है कि गरीब के घर में खुशियाँ आती भी है तो दबे पाँव ही आती है। गरीब के घर की दीवारें कच्ची होती है। दीवारों के किसी कमजोर हिस्से को धराशायी करती हुई खुशियाँ निकल भी जाती है। यह नहीं कि हर बार ऐसा ही होता है, लेकिन अधिकतर बार ऐसा ही होता है। ऐसा है यह दुश्चक्र---- लोग गरीब क्यों हैं, क्योंकि अपढ़ हैं; लोग अपढ़ क्यों हैं, क्योंकि गरीब हैं। इस दुश्चक्र को भेदना बहुत मुश्किल होता है। इस दुश्चक्र को भेदने में समाज और शासन के सकारात्मक पक्षपात की जरूरत होती है। ऐसा नहीं है कि इस दुश्चक्र में सिर्फ किसी जाति के सारे लोग हैं अथवा किसी जाति के सारे सदस्य इस दुश्चक्र की परिधि से बाहर हैं। इसके बावजूद यह तो मानना ही पड़ेगा कि कुछ जातियों का बड़ा हिस्सा ओर कुछ जातियों का छोटा हिस्सा इस दुश्चक्र में फँसा हुआ है। भारत में सकारात्मक पक्षपात की इस जरूरत को आरक्षण के माध्यम से पूरा किये जाने की व्यवस्था है। इस व्यवस्था को संवैधानिक समर्थन और राजनीतिक पोषण चाहे जितना मिले समाज के अगड़े हिस्से का संवेदनात्मक सहयोग लगभग न के बराबर है। आजादी के इतने दिनों के बाद भी हमारी सामाजिक विडंबना यह है कि जो सामाजिक ताकत सकारात्मक पक्षापात का विरोध करती है वही ताकत जाति पर आधारित नकरात्मक पक्षपात का विरोध करने के नाम पर पक्षाघात का शिकार हो जाती है। इतने संवेदनशील मामले में सिर्फ अपनी स्थिति के

आधार पर निर्णय करना घोर असंवेदनशीलता है। प्रतीक में सोचें तो जो गोहाना में हुआ वह कहीं नहीं होना चाहिए। लेकिन बाभन-ठाकुर के टोले-मुहल्ले में वैसी घटना के होने का असर क्या उतना ही अल्पायु होता!

थोड़ी प्रतिभा और ज्यादा पैसा के बल पर उच्च शिक्षा में शामिल होने का तो कोई विरोध नहीं करता! किसी को कोई दुविधा नहीं होती। कोलकाता के मेरे युवा मित्र पहले मिठाई लाल के नाम से कविता लिखते थे। एक गोष्ठी में अशोक बाजपेयी को उनकी कविता पसंद आई, नाम पसंद नहीं आया। मिठाई लाल निशांत हो गये। असली नाम कुछ और है। एक दिन फोन पर कहा कि जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में दाखिला के लिए हुई परीक्षा का रिजल्ट नेट पर निकला है। उनका चयन हो गया है। लेकिन वे दुविधा में थे। घरखर्ची कैसे निकलेगी?

जहाँ सुविधा नहीं होती है, वहाँ दुविधा ही तो होती है। नीलुओं और पढ़े-लिखे नीलुओं के भी सामने जीवन भर यही समस्या होती है कि दुविधा के पहाड़ के नीचे से रत्ती भर सुविधा कैसे हासिल करे।

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान